**ओ३म्**

**‘गीता सार और वैदिक धर्म’**

**-मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।**

गीता का सार प्रस्तुत करते हुए एक बात यह भी कही जाती है कि गीता के अनुसार मनुष्यों को **‘सभी प्रकार की आसक्ति को छोड़कर और सफलता-असफलता को समान समझकर अपना कर्तव्य करना चाहिए। यही कर्मयोग है। अपने धर्म में भले ही कुछ कमियां हों, फिर भी वह दूसरों के धर्म से उत्तम है। अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना भी कल्याणकारी है।’** आईये, इन पर विचार करते हैं।

 पहली बात यह कही गई है कि आसक्ति को छोड़कर अपना कर्तव्य करना चाहिए। आसक्ति का अर्थ हम यहां अपनी इच्छा, स्वार्थ, प्रलोभन, राग की पूर्ति व निजी हित को ले सकते हैं। वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार आर्यों व श्रेष्ठ मनुष्यों के पांच नित्य कर्तव्य बतायें गये हैं जिनमें सन्ध्या, देवयज्ञ अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ सम्मिलित हैं। यह पंचमहायज्ञ कहलाते हैं। इनकी पूर्ति बिना आसक्ति के सभी मनुष्यों को करनी चाहिये। वेदों के महाभारत काल के बाद हुए शीर्षस्थ, अपूर्व मर्मज्ञ व विद्वान स्वामी दयानन्द सरस्वती हुए हैं। उन्होंने आर्यसमाज के दस नियमों में से एक नियम यह दिया है कि मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें। यहां भी आसक्ति व इच्छा का त्याग कर सार्वजनिक हित के कार्यों को करने का विधान वा शिक्षा है। आर्यसमाज के दस नियमों में से एक नियम यह भी है कि आर्यों व मनुष्यों को सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहिएं। यहां मनुष्यों को केवल सत्य कर्म ही करने चाहिये व असत्य कर्मों का त्याग कर देना चाहिये, यह वेदसम्मत विधान है। आसक्ति को इसी दृष्टि से देखना चाहिये कि हमारा कर्म सत्य व इच्छा रहित हो। आसक्ति रहित असत्य कर्म करना धर्म के अन्तर्गत नहीं आता। अतः आसक्ति को छोड़कर वेदविहित धार्मिक कृत्यों को करने की शिक्षा गीता देती है।

गीता के सार में यह भी बताया गया है कि सफलता-असफलता को समान समझ कर अपना कर्तव्य करना चाहिये। यह बात रहस्यमय प्रतीत होती है। कौन-कौन सी सफलताओं और असफलताओं का समावेश इस वाक्य में है, यह विचारणीय है। कर्म फल सिद्धान्त के अनुसार हम जो कर्म करते हैं उसका कुछ कुछ परिणाम व फल अवश्य होता है जो ईश्वर के विधान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर में भोगना होता है। कर्म किसी उद्देश्य को रखकर ही किया जाता है। यदि हमारा कर्म, धर्म व कर्तव्य के अनुरुप है तो उसका परिणाम अवश्यमेव शुभ, सुखदायी व हितकारी होगा। हां, यह भी कह सकते हैं कि सन्ध्या व अन्य महायज्ञों को करते हुए इसमें आसक्ति को नहीं लाना चाहिये जबकि यह सुनिश्चित है कि ईश्वर की कृपा से इन कर्मों का फल भी जन्म-जन्मान्तर में हमें सुखदायक ही मिलना है। कब व किस प्रकार मिलना है, यह ईश्वर का विधान है जिसे समझना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है परन्तु ऋषियों व शास्त्रों से पुष्ट होने के कारण इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। मनुष्यों को अपनी आजीविका के लिए तो सफलता व असफलता का ध्यान रखना ही होगा। उसमें भी यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि हमारा कोई भी कार्य असत्य व अधर्म से संबंधित व उस पर आधारित न हो। सार्वजनिक व सर्वहितकारी कार्यों को करते हुए हमें सफलता व असफलता का विचार नहीं करना है, अन्य इतर निजी हित के कार्यों में यह पूर्णतया लागू नहीं होता, ऐसा हमें अनुभव होता है। जीवकोपार्जन के कार्यों में तो सफलता व असफलता का ध्यान रखना ही होगा। सभी कार्यों में सफलता व असफलता को समान नहीं समझा जा सकता। किसी कार्य में सफलता ही हमारे कर्म का आधार व प्रेरक तत्व होता है। इसको पूर्णतः निरुद्ध करना शायद् सामान्य धार्मिक प्रवृत्ति के मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में श्री कृष्ण जी के जीवन से भी प्रेरणा ली जा सकती है। कृष्णजी ने गीता में इसी को कर्मयोग की संज्ञा दी है। यहां तक तो हमें विशेष आपत्ति वा कठिनाई नहीं है। आगे उनके द्वारा कही गई शिक्षा का सार है कि ‘अपने धर्म में भले ही कुछ कमियां हों, फिर भी वह दूसरों के धर्म से उत्तम है। अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना भी कल्याणकारी है।’

अपने धर्म में भले ही कुछ कमियां हों फिर भी वह दूसरों के धर्म से उत्तम है, यह मान्यता विवेचनीय है। कृष्ण जी के समय में संसार में केवल एकमात्र वैदिक धर्म ही था। अन्य मत व धर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म का यहां स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यह भी विचारणीय है कि श्री कृष्ण जी अर्जुन को युद्धभूमि में उसका युद्ध के प्रति वैराग्यभाव दूर करने का उपदेश दे रहे थे। कृष्ण जी ने यह व ऐसी बातें किस सन्दर्भ में कहीं, जो विद्वान इसे ठीक मानते हैं, उनसे प्रार्थना है कि वह कृपया हमारा मार्गदर्शन करें। हम उनके आभारी होंगे। वेद, वैदिक साहित्य और महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर हमें यह बात ज्ञात हुई है कि यदि हमारी किसी धार्मिक मान्यता व सिद्धान्त में त्रुटि व कमी हो तो उसे दूर कर लेना चाहिये अर्थात् उसका सुधार कर लेना चाहिये। नित्य प्रति ध्यान साधना व अन्य धार्मिक कृत्यों में उन्नति करते रहना चाहिये। महर्षि दयानन्द की बाल्यावस्था में शिवरात्रि के दिन चूहों के शिवलिंग पर उछलकूद की जो घटना घटी थी, उसने उन्हें आन्दोलित किया था। इसके फलस्वरुप कालान्तर में उन्होंने अपने माता-पिता का घर तक छोड़ा, सत्य व सत्यधर्म को जाना और अपने गुरु की आज्ञा, अपना कर्तव्य जानकर और व्यक्ति, समाज व मानवता के हित में उसका और सभी वैदिक शिक्षाओं, मान्यताओं व सिद्धान्तों का प्रचार किया। हमने पढ़कर, सुनकर व चिन्तन कर धर्म के विषय में यही जाना है कि धर्म सत्य के ज्ञान व उसके आचरण को कहते हैं। वेद ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण सब सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं और उसका पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, वेदों का सुनना व दूसरों को सुनाना व बताना ही मनुष्य व आर्यां का परमधर्म है। अतः धर्म की एक परिभाषा वेदों की शिक्षाओं का स्वयं के जीवन में आचरण है व उसका दूसरों में प्रचार भी है। अन्य ग्रन्थों के मनुष्यकृत होने वा उनके रचयिता मनुष्यों के अल्पज्ञ होने के कारण उन ग्रन्थों की शिक्षाओं को उसी सीमा तक माना जा सकता है जहां तक वह वेदानुकूल व वेदसम्मत हों। यदि कोई व्यक्ति गीता के आधार पर अपने मत वा धर्म को दूसरों से उत्तम मान लेगा तो सत्य का ग्रहण करना और असत्य का त्याग करना नहीं हो सकेगा। महर्षि दयानन्द ने वेदों के आधार पर दो नियम यह भी बनायें हैं कि **‘सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।’** और **‘सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहिएं।’** यह नियम सर्वथा व निर्विवाद रूप से सत्य व ग्राह्य है परन्तु ऐसा लगता है कि यह गीता सार के शब्दों **‘अपने धर्म में भले ही कुछ कमियां हों, फिर भी वह दूसरों के धर्म से उत्तम है। अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना भी कल्याणकारी है।’** से संगत नहीं हो रहा है।

 इस प्रकार हमें उपर्युक्त शब्दों में धर्म के सम्बन्ध में वेद और गीता के विचारों में कुछ विरोधाभास अनुभव हो रहा हैं। हम न तो विद्वान है और न ही ज्ञानी। एक जिज्ञासु व स्वाध्यायशील व्यक्ति हैं। सत्य को स्वीकार करना और उसका आचरण करना सैद्धान्तिक आधार पर उचित मानते हैं। अतः हम गीता के जानकार विद्वानों से हमारी शंका का समाधान करने का आग्रह करते हैं। विचार करने पर हमें तो वेद, वैदिक साहित्य व आर्यसमाज के नियम व सिद्धान्त ही पूर्ण सत्य व स्वीकार्य लगते हैं। गीता के उक्त शब्दों से भ्रम पैदा होता है। इसका निराकारण होना चाहिये और सत्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

 एक निवेदन और करना चाहते हैं। राजा भोज के पिता के समय महाभारत का नाम भारत था और इसमें लगभग दस हजार श्लोक थे। महाराजा भोज के समय भारत के श्लोक बढ़कर 20 हजार हो गये। वर्तमान में महाभारत में एक लाख से अधिक श्लोक हैं। इससे सिद्ध है कि सम्पूर्ण महाभारत और उसके एक खण्ड व भाग गीता में भी अनिवार्यतः प्रक्षेप हुए हैं। गीता की उपर्युक्त शिक्षा विषयक श्लोक हमें बौद्ध काल व उसके बाद के प्रतीत होते हैं कि जब लोग वैदिक धर्म को छोड़ कर लोग बौद्धमत की शरण में जा रहे थे। हो सकता है तब उन लोगों को नास्तिक मत में जाने से रोकने के लिए विद्वानों ने अपने धर्म की श्रेष्ठता सूचित करने के लिए ऐसी शिक्षाओं को गीता में सम्मिलित किया हो जो सामयिक समाधान रहा हो। हमारे पास 70 श्लोकी एक गीता भी है जो बालीद्वीप से प्राप्त हुई बताई जाती है। यह सम्भव है कि यह गीता महर्षि वेदव्यास लिखित लगभग 10 सहस्र वाले मूल ग्रन्थ भारत का हिस्सा हो। आज संसार में सहस्राधिक मत-मतान्तर प्रचलित हैं जो स्वयं को मत-मजहब-सम्प्रदाय न मानकर धर्म ही मानते हैं। यदि यह सब गीता के श्लोक का पालन करें तो इससे समाज में एक सूत्रता की स्थापना कदापि नहीं हो सकेगी। इन मतों के कारण आज संसार में अशान्ति है। इस सिद्धान्त के पालन करने से अशान्ति और बढ़ सकती है। इसके लिए तो वेद का सिद्धान्त **‘सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग तथा सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र’** ही उपयुक्त प्रतीत होता है। विद्वानों से निवेदन है कि वह कृप्या हमारा मार्गदर्शन करें।

**-मनमोहनकुमार आर्य**

**196 चुक्खूवाला-2**

**देहरादून-248001**

**फोनः 09412985121**